वड़लो बनाम बरगद

गिरीश शर्मा

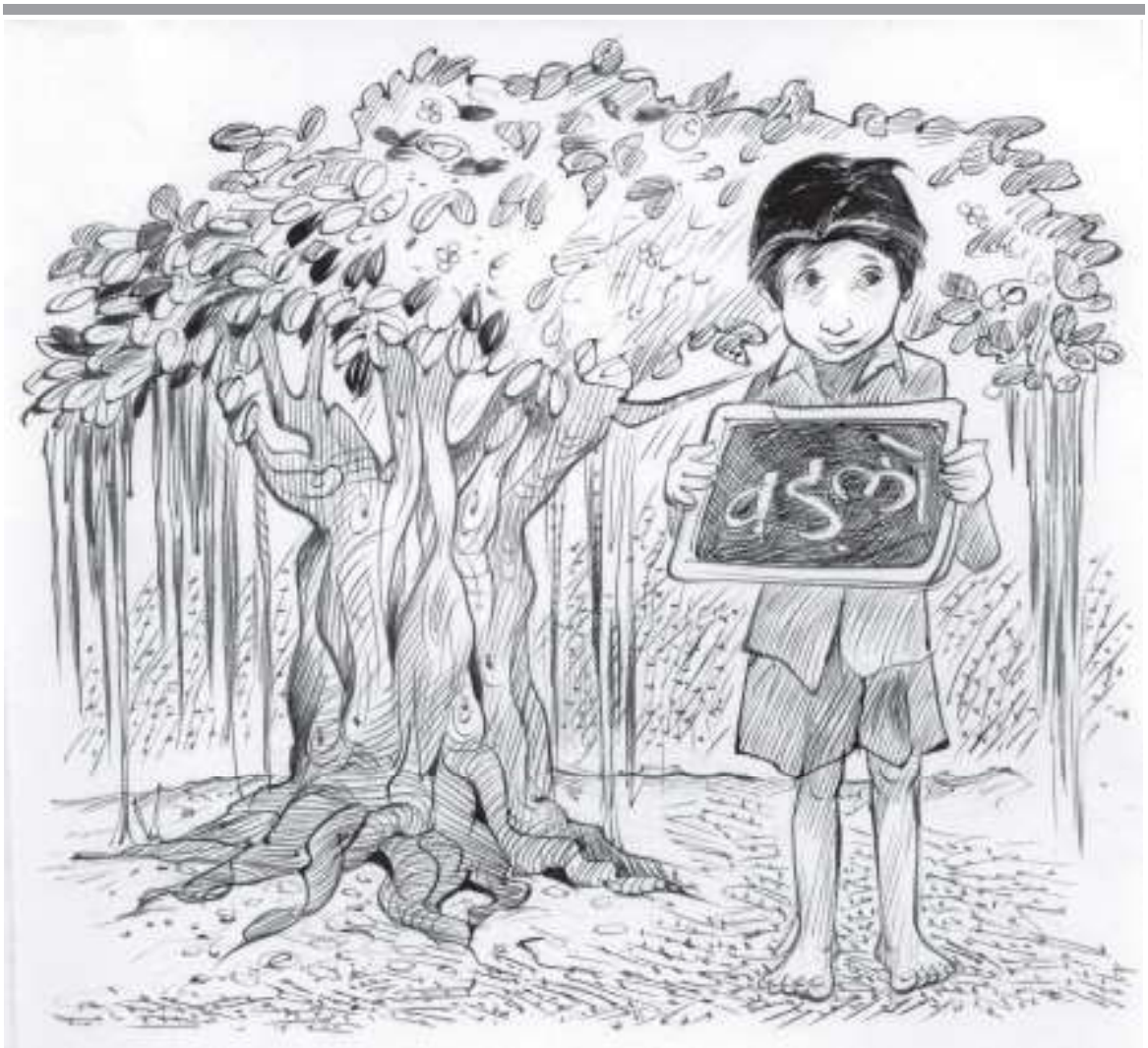

बच्चे जब विद्यालय आते हैं तब मातृभाषा की क्या अहमियत होती है यह मैंने राजस्थान राज्य के सिरोही, टोंक और बारां ज़िले के विद्यालयों का अवलोकन करने पर जाना। इस दरमियान अनुभव हुआ कि वास्तव में बच्चे विद्यालय में कुछ सीख क्यों नहीं पाते हैं। आख़िर उनके सीखने और अध्यापकों के सिखाने में कहां कमी रह जाती है।

एक बार मुझे एक विद्यालय में बच्चों के साथ संवाद करने का मौक़ा मिला। बच्चे कक्षा सातवीं के थे। मैंने बच्चों से कहा कि चलो अपने आस–पास पाए जानेवाले पेड़ों के नाम बताओ। अब बच्चे जवाब देने लगे। वे बोल रहे थे – नीम, बबूल, आम, अनार,

पीपल आदि। इनमें से अधिकांश पेड़ों के नामों को वे स्थानीय भाषा में बोल रहे थे जैसे नीम को 'लीमड़ा', आम को 'कैरी' आदि। उनसे पूछा कि बड़ के पेड़ के बारे में जानते हो? इस पर बच्चे इधर–उधर देखने लगे। मुझे लगा शायद उन्होंने इस पेड़ का नाम पहली बार सुना है। एक बच्ची ने पूछा यह कैसा पेड़ होता है? मैंने कहा वह पेड़ जिसकी जड़ें लटकती रहती है। इस पर उसकी एक साथी समझ गई और बोली "बड़ नी जाने। ऐ वेंडी वड़लो, वड़लो।" तब बच्ची पूछती है कि सर क्या परीक्षा में बड़ के पेड़ को वड़लो लिख सकती हूं? इसी प्रकार राष्ट्रीय पशु की बात आई तो एक बालिका ने पूछा कि क्या शेर को 'चितरा' लिखूंगी तो नंबर तो नहीं कटेंगे?

आम तौर पर इस संबंध में अध्यापकों से बात करने पर उनकी प्रतिक्रिया होती है कि बच्चों को लिखना ही नहीं आता। वे कहते हैं कि बच्चे बोलते क्या हैं और लिखते क्या हैं। कितनी ही मेहनत कर लो ये समझते ही नहीं हैं। यह देखी हुई बात है कि पढ़ाते समय अध्यापक अक्सर स्थानीय भाषा का प्रयोग भी करते हैं। लेकिन जब परीक्षा में जवाब की बारी आती है तो उनकी अपेक्षा रहती है कि बच्चों का जवाब वही हो जो किताब में लिखा हो। बच्चों को अपनी मातृभाषा में जवाब तो आता है। लेकिन उन्हें यह भी डर होता है कि इसे लिखते ही अध्यापक अंक काट लेंगे। यह भी सही है कि यदि बच्चे ने शेर की जगह 'चितरा' लिख दिया तो शिक्षा व्यवस्था उस उत्तर को अस्वीकार कर देती है।

बारां ज़िले में एक कक्षा–कक्ष अवलोकन के दौरान महसूस किया कि अध्यापक बच्चों से रोज़ाना कक्षा के बाहर तो स्थानीय भाषा में बात करते हैं लेकिन कक्षा–कक्ष में हमारी उपस्थिति के दौरान बच्चों से हिन्दी में बात करने की कोशिश करते। ऐसा इसलिए लग रहा था कि वे जो शब्द बोलने में इस्तेमाल कर रहे थे सोच–सोचकर बोल रहे थे। साथ ही ऐसा लग रहा था कि वे ज़बरदस्ती बोल रहे हों। उनके व्यवहार में भाषाई बनावटीपन लग रहा था। भाषा में हिन्दी और स्थानीय भाषा का मिला–जुला असर दिख रहा था। अध्यापक और बच्चे दोनों असहज थे। इसके साथ ही बच्चे जब जवाब दे रहे थे या अध्यापक से कुछ पूछ रहे थे या अन्य बच्चों की शिकायत कर रहे थे तो वे अध्यापक से स्थानीय भाषा में ही संवाद कर रहे थे।

जहां तक स्कूलों के माध्यम का सवाल है तो इसमें गांव के स्कूल भी पीछे नहीं हैं। अभिभावक फ़ीस के रूप में मोटी रकम देकर भी अपने बच्चों को अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ाना चाहते हैं। इसका अनुभव बारां ज़िले में एक गांव में हुआ। यहां क़रीब तीन सौ की आबादी है। गांव में एक राजकीय प्राथमिक स्कूल भी है। लेकिन वहां बहुत कम बच्चे जाते हैं। गांव के अधिकांश बच्चे सुबह–सुबह अकेले ही पैदल क़रीब तीन किलोमीटर दूर अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने जाते हैं और दोपहर दो बजे तक लौटते हैं। सिरोही ज़िले में भी ऐसे कई अंग्रेज़ी स्कूल देखने को मिले।

विद्यालयों में अवलोकनों के दौरान यह भी अनुभव हुआ कि अध्यापकों की भाषा भी कई बार बच्चों के सीखने में बाधा उत्पन्न कर देती है। जहां अध्यापक की नियुक्ति किसी अन्य क्षेत्र से होती है तो बच्चों की मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। सिरोही में मैंने कई विद्यालयों में ऐसे शिक्षकों को पाया जो राज्य के दूसरे ज़िलों से आए थे। आरपीएससी के ज़रिए उन्होंने ऐसे जिलों में आवेदन किया जहां शिक्षकों के पद ज़्यादा थे। एक बार नियुक्ति होने के बाद और कुछ समय वहां सेवारत रहने के बाद अपना तबादला करवा लेने की उनकी सोच थी। ऐसे अध्यापकों से बातचीत करने पर यह भी पता चला कि उन्हें मारवाड़ी, (जो कि सिरोही में बोली जाती है) नहीं आती। ऐसे में स्थानीय भाषा में बच्चों को पढ़ाने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। और वे क्या पढ़ाते हैं और बच्चे क्या पढ़ते हैं इस पर भी एक प्रश्न उठता है। इसके दुष्परिणाम वहां के स्कूलों में देखने को मिले। कक्षा में जाकर जब बच्चों से पूछा जाता कि किसके पास पाठ्यपुस्तकें हैं तो सभी अपने हाथ खड़े करके हामी भरते। जब उनसे पाठ्यपुस्तकें दिखाने को कहा जाता तो वे अपने बस्तों से हमें कुंजियां और पासबुक दिखाते। कई स्कूलों में देखा कि सरकार की ओर से निःशुल्क वितरित की जानेवाली पाठ्यपुस्तकें चाहे बच्चों के पास हों या ना हों किन्तु महंगी पासबुकें व कुंजियां ज़रूर मिल जातीं। इसके कई कारण हो सकते हैं लेकिन एक अहम कारण यह समझ में आता है कि बच्चों को या तो अध्यापकों की

भाषा समझ में नहीं आती या किताबों में लिखा हुआ समझ नहीं आता और वे परीक्षा पास करने के लिहाज़ से इनका सहारा लेते हैं।

यदि हम शहरों के विद्यालयों को छोड़ दें तो कुछ में हमें देखने को मिलेगा कि ज़्यादातर अध्यापकों का बच्चों के साथ जो संवाद होता है वह स्थानीय भाषा में होता है। (यह बात अलग है कि कई पब्लिक स्कूलों में तो हिन्दी बोलने पर भी पाबंदी है। चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी हो या बच्चों को स्कूल छोड़ने, लेने आनेवाला ऑटो चालक सभी को बच्चों से अंग्रेज़ी में ही बात करनी होती है।) मगर किसी सरकारी स्कूल में चले जाएं तो दो अध्यापक आपस में स्थानीय भाषा में ही बात करते नज़र आएंगे।

एक बार हम सिरोही ज़िले के एक स्कूल के अवलोकन पर थे। उस दिन ब्लॉक शिक्षा अधिकारी भी उस विद्यालय के निरीक्षण पर आए। वे एक कक्षा में पहुंचे और उन्होंने बच्चों से बात करना प्रारंभ की। वे क्षेत्रीय भाषा में बात कर रहे थे। वे बच्चों से उनकी स्थानीय भाषा में पूछ रहे थे कि अध्यापक पढ़ाते हैं या नहीं? कितना कोर्स हो गया और कितना बाक़ी है? पोषाहार मिलता है या नहीं? आज पोषाहार में क्या मिला? आदि। बच्चे भी स्थानीय भाषा में निःसंकोच जवाब दे रहे थे।

हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं मेवाड़ी तो जानता हूं लेकिन मारवाड़ी ठीक तरह से नहीं जानता। समझ तो जाता लेकिन बोलने में परेशानी होती। साथ ही हमारे जो अन्य साथी थे वे तो मारवाड़ी बिल्कुल नहीं जानते थे क्योंकि वे जयपुर, बिहार, कर्नाटक, और गुजरात से थे। ऐसे में बच्चों से बात करने की कोशिश करने पर बच्चे हमसे कतराते। लेकिन जैसे ही हम उनकी भाषा में बात करने का प्रयास करते वे संकोच छोड़ हमारे नज़दीक आ जाते थे।

लर्निंग गारंटी स्कूल कार्यक्रम के दौरान भी स्थानीय भाषा को लेकर कई अनुभव हुए। शैक्षिक गुणवत्ता में वृद्धि के लिए सरकार व अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने विद्या भवन के सहयोग से सिरोही और टोंक ज़िलों के 1080 स्कूलों में प्रारंभ किया था। इसमें मुख्य फोकस मूल्यांकन था। यदि स्कूलों की मूल्यांकन प्रक्रिया बदल दी जाए तो बच्चे अधिक सीख पाएंगे। यह अध्यापकों को पढ़ाने के तरीक़ों को बदलने के लिए भी प्रेरित करेगा। कार्यक्रम प्रारंभ करने से पूर्व कार्यशालाओं में अध्यापकों से बातचीत की गई जिसमें अध्यापकों ने सवाल उठाए कि हमारे बच्चे तो ग्रामीण परिवेश से आते हैं, आपके द्वारा बनाए गए प्रश्न पत्र वे हल नहीं कर पाएंगे। हमें तो पहले बच्चों को प्रश्न पत्र पढ़कर सुनाना होता है तभी वे लिख पाते हैं आदि। इसलिए मूल्यांकन के दौरान बच्चों को कोई परेशानी न हो और अध्यापकों का भी सहयोग रहे इसका विशेष ध्यान रखा गया। मूल्यांकन दो स्तरों में हुआ। लिखित और मौखिक। हमारी टीम में ज़्यादातर लोग ऐसे थे जो वहां की भाषा से वाक़िफ़ नहीं थे। इसलिए मूल्यांकन टीम में ऐसे लोगों का चयन किया गया जो उस क्षेत्र के ही रहनेवाले हों। वे मूल्यांकन के दौरान प्रश्नपत्र हल करने से पूर्व प्रत्येक प्रश्न को तीन बार पढ़कर बच्चों को निर्देश देते। मौखिक परीक्षा में तो बच्चों की भाषा जानना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता। इसलिए तय किया गया कि प्रत्येक प्रश्न को बच्चे की स्थानीय भाषा में भी दोहराया जाए। साथ ही यदि बच्चा उस प्रश्न का उत्तर स्थानीय भाषा में देता है तो उसकी हंसी नहीं उड़ाई जाए, उसके उत्तरों को स्वीकार किया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि बच्चों ने भयरहित होकर आत्मविश्वास के साथ जवाब दिए।

जब बच्चों की उत्तरपुस्तिकाएं जांची गईं तो उनमें सवालों के कई तरह के जवाब आए। मसलन स्कूल जाते हैं तो लिखा–इसकूल जाते हैं, स्नान करते हैं–सणाण करते हैं, रोटी बनाते हैं–बाटी बनाते हैं। झूला को हीसरा, हिचका लिखा। तितली को ततली आदि लिखा। दरअसल ये जवाब एक स्तर पर सही थे और उनको सही माना गया।

हम यह कह सकते हैं कि अध्यापकों को उस भाषा में बच्चों के साथ संवाद करना चाहिए जिसमें बच्चे सहज महसूस करें। यदि ऐसा होगा तो शिक्षण अधिक प्रभावी होगा तथा बच्चे ज़्यादा सीख पाएंगे।

मूल सवाल विचारों को व्यक्त करने का है उसमें भाषा बाधक नहीं बननी चाहिए।

गिरीश शर्मा – विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र, उदयपुर।